IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

साहित्य और बाज़ारवाद

डॉ. तृप्ति उकास
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी
शासकीय महाकोशल कला एवं वाणिज्य
स्वशासी महाविद्यालय, जबलपुर, म.प्र.

सारांश

हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रत्येक कालखण्ड में बाज़ार का वर्णन मिलता है। विभिन्न सन्त कवियों के काव्य में मेलों, हाट का उल्लेख है। ये मानवीय जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। इन का आयोजन आनन्द और उल्लास से जुड़ा हुआ था। यहाँ न केवल वस्तु–विनिमय होता था अपितु मनुष्य सुख–दुःख भी बाँट लिया करते थे। वर्तमान समय में साहित्य सृजन में अपनी पैठ बना चुके बाज़ारवाद ने न केवल प्रकाशकों, लेखकों अपितु समीक्षकों की भी दृष्टि बदल दी है। मुद्रण कला के विकास ने इस में उत्प्रेरक का कार्य किया है। डेढ़ से दो सौ वर्ष पूर्व कोई भी प्रतिभा विहीन व्यक्ति साहित्यकार होने का दुःसाहस नहीं कर सकता था। यदि ऐसी धृष्टता वह कर भी लेता तो पाठक उसे एवं उस की कृति को प्रथम दृष्टया ही नकार दिया करते थे। आज ऐसी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं, पाठकों तक पहुँच भी रही हैं। बाज़ार सदैव था और भविष्य में भी रहेगा। इस सम्बन्ध में समाज के सचेतक साहित्य की भूमिका पुनः महती हो जाती है, कि वह बाज़ार के ख़तरों के प्रति मानव समाज को आगाह करे।

मूल शब्द

साहित्य की अवधारणा, हिन्दी साहित्य में बाज़ार, भूमण्डलीकरण और बाज़ारवादी संस्कृति, साहित्य में बाज़ारवाद।

विस्तार

साहित्य अपने स्वभाव से ही व्यवस्था का विरोधी होता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास ही उपनिवेशवाद और पूँजीवाद से लड़ते हुए हुआ है। भूमण्डलीकरण, सूचना एवं संचार की क्रान्ति ने बाज़ारवाद का बहुत पोषण किया है। इस से मनुष्यता के समक्ष नये–नये संकट उत्पन्न हो गये हैं। साहित्य के इतिहास के प्रत्येक कालखण्ड में बाज़ार का वर्णन किसी न किसी रूप में मिलता है। विभिन्न सन्त कवियों ने भी अपने काव्य में शिक्षा और उपदेश देने के लिये बाज़ार को स्थान दिया है। बाज़ार वास्तव में मनुष्य जीवन की भौतिक आवश्यकताओं का पूर्तिस्थल है। बाज़ार और मेले मानव जीवन के आनन्द, उमंग और उल्लास से जुड़े हुए हैं। इन के माध्यम से न केवल आपस में भेंट हो जाती थी अपितु सूचनाओं का आदान–प्रदान भी हुआ करता था।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रत्येक कालखण्ड में बाज़ार का वर्णन मिलता है। विभिन्न सन्त कवियों के काव्य में मेलों, हाट का उल्लेख है। ये मानवीय जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। इन का आयोजन आनन्द और उल्लास से जुड़ा हुआ था। यहाँ न केवल वस्तु–विनिमय होता था अपितु मनुष्य सुख–दुःख भी बाँट लिया करते थे। **कबीर** तो

बाज़ार के बीच में खड़े हो कर न केवल सब की खैर पूछा करते थे अपितु सब की खबर भी लिया करते थे। भरे बाज़ार में, बीच में खड़े हो कर प्रश्न करने का साहस, **कबीर** ही रखते थे। बाज़ार के विरुद्ध जाने और बात करने की उन में हिम्मत भी थी और मूल्यबोध भी था।

सूरदास के **सूरसागर** में गोपियाँ भोर से ही गोकुल से मथुरा के बाज़ार में दूध, दही, माखन और घी का विक्रय करने जाती थीं। द्वापर का मथुरा का बाज़ार कृष्ण और गोपिकाओं के हर्ष–उल्लास के कारण अमर हो गया है। यहीं भ्रमरगीत सार में कृष्ण का निर्गुण, निराकार ब्रह्म की उपासना का सन्देश ले कर आये उन के दूत **उद्धव** को गोपियाँ खरी–खोटी सुनाती हैं, कि **'आयो घोष बड़ो ब्योपारी।' राम कथा** में सीता परित्याग के पूर्व में भी धोबी के प्रसंग में बाज़ार का वर्णन है।

भारतेन्दु युग में **'अंधेर नगरी'** प्रहसन ने बाज़ार की सच्चाई को उजागर किया है। वे इस के माध्यम से न केवल व्यक्ति के मोल की दुर्दशा का वर्णन करते हैं अपितु राजा की अकर्ण्मयता, तंत्र की भ्रष्टता का भी पटाक्षेप करते हैं। इतिहास साक्षी है कि अंग्रेज़ मूलतः व्यापारी बन कर ही भारत आये थे। उन्होंने बाज़ार की नींव इतनी सुदृढ़ कर दी, कि वे ही कालान्तर में शासक बन गये। बाज़ार जिस की मुट्ठी में होगा, सत्ता को उस की कठपुतली बनते और अन्ततः विवश होते समय नहीं लगता है। समय बीतते वस्तुओं के साथ मनुष्यों का क्रय–विक्रय भी बाज़ार में होने लगा। क्रय कर के उन्हें गुलाम बनाया जाता था। प्रगतिवादी युग में **नागार्जुन** लिखते हैं, कि **'बाप बेटा बेचता है, भूख से बेहाल हो कर, सारा जहाँ देखता है।'**

प्रेमचन्द के कथा साहित्य में बाज़ार का सुन्दर और कुरूप चेहरा क्रमशः **ईदगाह** और **कफन** कहानी में मिलता है। एक ओर **ईदगाह** में जहाँ नन्हा हामिद भूख सह कर भी बाज़ार के प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करता है और अपनी वृद्ध दादी के लिये चिमटा ख़रीदता है, जिस से रोटियाँ सेंकते समय उन के हाथ न जलें। यह कहानी बाज़ार पर मानवीयता की विजय है। वहीं दूसरी ओर **कफन** में बुधिया की मृत्यु पर आस–पास के लोगों से एकत्र पैसों से घीसू और माधव कफन में पैसे व्यर्थ ख़र्च न कर के उस से न केवल उदरपूर्ति करते हैं, शराब भी पीते हैं। यहाँ मानव जीवन के शाश्वत् मूल्यों पर बाज़ार हावी हो जाता है। वर्तमान समाज **ईदगाह** के स्थान पर **कफन** की दृष्टि का अनुगामी बन चुका है। **चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'** की अमर कथा **'उसने कहा था'** में भी दोनों बच्चों की भेंट, बातों और कथा के लालित्य का आधार बाज़ार की जीवन्तता ही रही है।

काल की गति के साथ ही बाज़ार, हाट और मेलों का स्वरूप, आधार और कारण परिवर्तित हो गये हैं। वस्तु–विनिमय के स्थान पर आज रुपयों का प्रयोग होने लगा है। इक्कीसवीं सदी में जहाँ सूचना और संचार की क्रान्ति का समय है, जहाँ आपसी प्रेम, सौहार्द, सद्भाव की चाशनी फीकी पड़ चुकी है बाज़ार वास्तव में अब केवल छलना के स्तर तक संवेदनाहीन हो चुका है। मनुष्यता और मानव जीवन मूल्यों को ग्रहण लग चुका है। **भूमण्डलीकरण और आर्थिक उदारीकरण** के चमकते नारों की माया नगरी में, हम विरोध और धिक्कार के बाद भी जीने के अभिशप्त हैं। भूमण्डलीकरण के विश्वग्राम में न तो सहकारिता, न ही समता और न ही नैतिक मूल्य हैं न ही जिस में पारस्परिक प्रेम और सद्भाव है, हम बस बाज़ार में भोग की धधकती ज्वाला में छोड़ दिये गये हैं जहाँ सब धीरे–धीरे होम हो रहा है। वस्तु की जगह उत्पाद, ग्राहक की जगह उपभोक्ता जैसे शब्दों का प्रयोग होने लगा है। उत्पादों की पैकिंग और विज्ञापन, उत्पाद की गुणवत्ता से बढ़ कर हो गये हैं।

उपभोक्ता के मानस को इस प्रकार प्रभावित किया जाने लगा कि वह उत्पादों की ओर ललकें। चाहे आवश्यकता न भी हो, वो उन्हें ख़रीदें। उत्पाद, उपभोक्ता के स्टेटस का निर्धारण करने लगे हैं। उत्पाद की ब्राण्ड वैल्यू, उपभोक्ता को कितना सम्मान दिया जाये, इस की परिचायक हो गयी है। सब तरह के हथकण्डों का उपयोग कर के नवीन आवश्यकताओं का सृजन किया गया। विशेष रूप से महिलाओं के सौंदर्य प्रसाधनों की आवश्यकताओं को बिना कारण बढ़ावा दिया गया है। समाज में व्याप्त गोरे–काले के भेदभाव ने रातों–रात गोरा बनाने की क्रीम को अति लोकप्रिय ही नहीं अपरिहार्य बना दिया। इस प्रकार की अनेक कुरीतियों ने उत्पादनों के मध्य जानलेवा प्रतियोगिता को प्रारम्भ कर दिया। प्रत्येक क्षेत्र में ऐसी प्रतियोगिताएँ आज चरम पर पहुँच गयी हैं।

वर्तमान में तो बाज़ार के लिये बाहर जाने की अनिवार्यता भी समाप्त हो चुकी है। बाज़ार अपना पिटारा ले कर हमारे मोबाइल, लैपटॉप में '**ऑनलाइन शॉपिंग**' के रूप में पैठ बना चुका है। आज हर वस्तु बिकाऊ है। बाज़ार ने हमारे अस्तित्त्व को हिला कर रख दिया है। केवल महानगर या नगर ही नहीं अपितु गाँव और क़स्बों को भी इस ने अपनी चपेट में ले लिया है। हर आयु, वर्ग के व्यक्ति के पास आज मोबाइल है। पेट की भूख के बराबर ही आज ये सारी ज़रूरतें हो गयी हैं। इतने क्रान्तिकारी परिवर्तनों के बाद भी शिक्षा पद्धति ने अपने परम्परागत ढाँचे को आज भी न ही तोड़ा है और न ही बदला है। इस में परिवर्तन से ही वास्तव में सम्पूर्ण राष्ट्र में परिवर्तन दृष्टिगोचर होगा। विज्ञान की उत्कृष्टता के दावों ने साहित्य को निरर्थक सिद्ध करने का भरपूर प्रयास किया है। सब कुछ विज्ञान है, सब कुछ विज्ञान से है, इस प्रकार के अतिवादी विचारों ने साहित्य को कटघरे में खड़ा कर दिया है। अच्छे साहित्यकारों का समाज में वैसा स्थान, रोज़गार या आय नहीं है जैसी किसी वैज्ञानिक की होती है।

विपणन आज धूर्तता का पर्याय बन चुका है। आवश्यकता न होने पर भी हम वस्तुओं को ख़रीदने बाध्य किये जा रहे हैं, मूर्ख बनाये जा रहे हैं। बाज़ार हम और हमारी जीवनशैली की हँसी उड़ा कर तब तक हमें हीन भावना से भरता है, जब तक हम उस वस्तु को ख़रीद नहीं लेते। इस ने समाज के स्टेटस सिम्बल को बदलते हुए ब्राण्ड वैल्यू को बढ़ावा दिया है। बिना हमारी असुविधा का ध्यान रखे बाज़ार हमारे घर में घुस आता है। एक नयी संस्कृति **'बाज़ारवादी संस्कृति'** का विकास हो चुका है। आज का बाज़ार मनुष्य को केवल उपभोक्ता बना कर धन कमाने में विश्वास रखता है। कबीर, सूर, तुलसी के युग के बाज़ार की तरह दुःख भी नहीं बाँटता है।

बनावटी, थोथी और आधारहीन प्रतियोगिताओं से भरे ऐसे बाज़ार में भला साहित्य कैसे पीछे रहता? उसे भी तत्कालीन युग की आवश्यकता के अनुरूप लिखा और छापा जाने लगा। इस के साथ ही ये प्रयास भी प्रारम्भ हो गया, कि किस रचना को साहित्य की परिधि में रखें और किसे नहीं। इस विषय पर आलोचना एवं समीक्षा के क्षेत्र में होड़ लगी हुई है। साहित्य की आत्मा सृजन, भाव, रचनात्मकता, उच्च कोटि के चिन्तन–मनन, ज्ञानवर्द्धन, सामाजिक उत्तरदायित्व, भाषायी गौरव, शोध के नवीन आयामों की कसौटियों इत्यादि में अन्तर्भूत होती है। केवल मनोरंजन के उद्देश्य को ले कर चलने वाला, इच्छाओं की पूर्ति करने वाला, केवल धनार्जन के लिये लिखा गया ऐसा साहित्य क्षणभंगुर होता है। लेखकों का पाठकों से स्वयं को श्रेष्ठ मान कर, उन पर अपनी विद्वत्ता की छाप छोड़ने के लिये लिखा गया जटिलतम साहित्य भी स्वीकार्य नहीं हैं। साठ प्रतिशत से ज़्यादा की युवा पाठकों के समूह को अन्ततः लेखक क्या देना चाहते हैं? उन के साहित्य में क्या समाज का वास्तविक प्रतिबिम्ब है? क्या वे केवल पुरस्कार प्राप्त करने तो नहीं लिख रहे है? क्या उन के साहित्य में स्वपीड़ा का आर्तनाद है? क्या उन का लेखन भटके हुए को मार्ग दिखाने में सक्षम है? क्या उन का साहित्य मानवीय मूल्यों का पक्षधर है? ऐसे अनेक अनिवार्य प्रश्नों की आँच पर तपा कर साहित्य का मूल्यांकन अपरिहार्य है।

प्रकाशन संस्थानों का निष्पक्ष होना इस शृंखला की अगली कड़ी है। मूल रचनाओं को तोड़–मरोड़ कर, नाम बदल कर नये–नये संस्करण निकालना, सामाजिक प्रतिबद्धता के विरुद्ध निम्न कोटि के साहित्य को प्रकाशित कर लाभ कमाना, कुछ विशिष्ट लेखकों की हर प्रकार की रचनाओं को छापना और नयी प्रतिभाओं को अवसर न देना, खेमेबाज़ी करना, आंचलिक लेखकों को दरकिनार कर के फूहड़ रचनाओं को स्थान देना आदि समस्याओं से यदि ये प्रकाशन संस्थान बाहर आ सकें तो अच्छे साहित्य को उचित बाज़ार, स्थान और मूल्य प्राप्त हो सकेगा।

साहित्य सृजन में अपनी पैठ बना चुके बाज़ारवाद ने न केवल प्रकाशकों, लेखकों अपितु समीक्षकों की भी दृष्टि बदल दी है। मुद्रण कला के विकास ने इस में उत्प्रेरक का कार्य किया है। डेढ़ से दो सौ वर्ष पूर्व कोई भी प्रतिभा विहीन व्यक्ति साहित्यकार होने का दुःसाहस नहीं कर सकता था। यदि ऐसी धृष्टता वह कर भी लेता तो पाठक उसे एवं उस की कृति को प्रथम दृष्टया ही नकार दिया करते थे। आज ऐसी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं, पाठकों तक पहुँच भी रही हैं। ऐसे प्रकाशक लेखकों के साथ–साथ पाठकों का भी शोषण कर रहे हैं। पूर्व में किसी भी चिन्तक ने लेखन को व्यवसाय के रूप में स्वीकार नहीं किया था। वे इसे केवल समाज के हितार्थ लिखा करते थे। आज की भाँति रॉयल्टी या पारिश्रमिक, तत्कालीन लेखकों, विचारकों या चिन्तकों का ध्येय कभी नहीं रहा। यहाँ अर्थात् लेखन या रचनाधर्मिता में भी आज मार्क्सवादी चिन्तन हावी हो चुका है। इस तरह एक लेखक और श्रमिक में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता है। प्रकाशक की भूमिका एक कारखाने के मालिक की तरह हो गयी है और रचनाधर्मी जीव लेखक उस में श्रमिक मात्र रह गये हैं। आज कोई **तुलसीदास** की भाँति **'स्वान्तः सुखाय रघुनाथगाथा'** लिखने का उपक्रम भी करना नहीं चाहता है और न ही कोई **भवभूति** की भाँति भविष्य में अपनी कृति के मूल्यांकनकर्ता की आशा में निश्चिन्त बैठना चाहता है। उन की रचनाधर्मिता समाप्त हो चुकी है। अब वे केवल अपने लेखन कौशल के बल पर धन कूटना चाहते हैं। इस के लिये वे अपनी गाँठ का रुपया भी ख़र्च करके अपनी प्रभुता या जुगाड़ के बल पर ऐसी पुस्तकें प्रकाशित करवा लेते हैं, जो साहित्य की श्रेणी में कदापि नहीं रखी जा सकती हैं। साथ ही इन की उच्च प्रतिष्ठित समीक्षकों से समीक्षा लिखवा ली जाती है। आज समीक्षा की नहीं जाती करवाई जाती है। इन सभी कारणों से **'लेखकों, प्रकाशकों एवं समीक्षकों'** के प्रति पाठकों का विश्वास कम होता जा रहा है।

मानव निर्मित बाज़ार, मानव पर ही कैसे हावी हो गया? तकनीकी विकास के साथ ही हमारे स्वप्न जैसे–जैसे यथार्थ से दूर हो गये, वैसे–वैसे ही बाज़ार हमारे मन और मस्तिष्क में घर करते चला गया। पारम्परिक बाज़ार जहाँ ज़रूरतों का सौदागर था, वहीं आधुनिक बाज़ार स्वप्नों का सौदागर है। आज धन का न होना स्वप्नों को पूरा करने के मार्ग का बाधक नहीं हैं। आज सारे स्वप्न, ईएमआई से बस एक क़दम ही दूर हैं। आज शैशव गुम हो चला है। मिट्टी से खेलने की उम्र में आज बच्चे मोबाइल और लैपटॉप से दिग्भ्रमित हो रहे हैं। विडम्बना यह है, कि केवल वस्तु ही नहीं स्वयं मनुष्य ही वस्तुरूप में बाज़ार में बिकने पहुँच चुके हैं। यह बाज़ार की सब से दुःखद और त्रासद परिणति है। बाज़ार सदैव था और भविष्य में भी रहेगा। इस सम्बन्ध में समाज के सचेतक साहित्य की भूमिका पुनः महती हो जाती है, कि वह बाज़ार के ख़तरों के प्रति मानव समाज को आगाह करे। समकालीन साहित्य बाज़ारवाद का सामना पूरी शक्ति से करता हुआ नज़र आ रहा है। रचनाकारों, पाठकों एवं बुद्धिजीवियों के गहन चिन्तन ने साहित्य को अपनी मुख्यधारा की ओर लौटने में सार्थक सहायता प्रदान की है। इस पुनर्उद्धार में आवश्यकता समस्त रचनाधर्मियों, प्रकाशकों एवं पाठकों की प्रतिबद्धता की है।